प्राचीन भारत में कौशल आधारित जन-शिक्षा का स्वरूप

प्रो. सुनील कुमार उपाध्याय
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, शिक्षक-शिक्षा विभाग, डी. बी. एस. कॉलेज, कानपुर
skupadhyay1973@gmail.com

सारांश

प्राचीनकाल से ही पूरे भारतीय समाज में ज्ञान के प्रति एक अद्भुत प्रेम रहा है, जिसने समूचे भारतीय जनमानस को ज्ञान के सृजन-अर्जन के प्रति संकल्पित रख शैक्षिक परम्परा को समृद्ध करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। बावजूद इसके यह माना गया कि देश का एक बड़ा वर्ग ऐतिहासिक रूप से लम्बे समय तक शिक्षा से वंचित रहा, जो न केवल उनके वैयक्तिक-सामाजिक विकास में बाधक बना, बल्कि यह हमारे उदात्त सांस्कृतिक आदर्शों के ऊपर भी प्रश्न खड़ा करता है। यह प्रश्न तब और महत्त्वपूर्ण हो जाता है, जब यह मान लिया जाता है कि यह शैक्षिक वंचना स्वैच्छिक या स्वाभाविक न होकर शोषण के उद्देश्य से जातीय आधार पर जान-बूझ कर थोपी गई। अतः यहाँ प्रश्न केवल शिक्षा से वंचित होने का नहीं बल्कि शिक्षा के अधिकार से ही वंचित होने का उपस्थित हो जाता है। अतः यह जानना महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि भारत में शिक्षा की क्या परम्परा रही है और उसमें जन-शिक्षा की कोई अवधारणा रही है या नहीं? यदि रही है, तो किन-किन रूपों में, और इन शैक्षिक परम्पराओं के बावजूद भी क्या वास्तव में ऐतिहासिक रूप से कुछ वर्ग जातीय आधार पर शिक्षा से वंचित हुए और यदि हुए, तो इसके पीछे क्या कारण हो सकते हैं? इन्हीं प्रश्नों के साथ भारत में शैक्षिक परम्परा का जातीय सन्दर्भ में अध्ययन ही इस आलेख की विषयवस्तु है।

***मुख्य शब्द**: उत्पादक शिक्षा, अर्थकरी शिक्षा, कला व शिल्प कौशल आधारित शिक्षा, जन-शिक्षा और जाति*

पृष्ठभूमि

भारत प्रारंभ से ही एक ज्ञान-आधारित समाज रहा है, जहाँ मुक्ति को जीवन और शिक्षा का अंतिम लक्ष्य मानकर (हिरियन्ना,1932, पृ. 24; मुकर्जी,1947, पृ. xxi) और उसी को केंद्र में रखकर आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करने वाली शिक्षा दी जाती थी। साथ ही अपनी शैक्षिक परम्परा के माध्यम से जीवन के अन्य तमाम क्षेत्रों में भी हम अपनी रुचि, क्षमता और आवश्यकता के अनुरूप लौकिक ज्ञान के उत्पादन में भी संलग्न रहे। अपने ज्ञान और कर्म द्वारा पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति हमारी ज्ञान परम्परा का आदर्श भी रहा (मुण्डक उपनिषद, 1935, 1.1.4-5; ईशावास्य उपनिषद, 1992, 9-11; कौटिलीय अर्थशास्त्र, 2024, 1.1-2; त्रिपाठी, 1970, पृ. 13-21) और आध्यात्मिक व लौकिक दोनों तरह का ज्ञान प्राप्त करना व्यक्ति की आवश्यक योग्यता (मुण्डक उपनिषद, 1935, 1.1.4; ईशावास्य उपनिषद,1992, 11) व जीवन का आदर्श भी रहा (मनुस्मृति, 2024, 12.89-91; वैशेषिक दर्शन, 1919,1.1.2)।

लौकिक ज्ञान से जुड़ी उदार और उपयोगी शिक्षा के माध्यम से ही पंचकोशीय विकास के विभिन्न सोपानों को पार करते आत्मज्ञान की आनंदमय स्थिति की प्राप्ति उपनिषदीय शिक्षा का भी लक्ष्य रहा (ओड़, 1973/2008, पृ.120-124) तो कुछ इसी तरह बौद्ध शिक्षा का भी (ओड़, पृ.165-168)। उदार शिक्षा का संबंध बौद्धिक व सांस्कृतिक विकास से है। शास्त्रीय, साहित्यिक, मानविकी, नैतिक गुणों आदि की शिक्षा, जिसे उदार शिक्षा माना गया (डोरेन, 1943, पृ. 43), उससे जुड़े धर्म, दर्शन, साहित्य, व्याकरण, ज्योतिष जैसे विषयों के विशाल वाङ्मय के साथ ही भारतीय समाज में बहुत पहले से ही भौतिक जीवन की जरूरतों को पूरा करने और उसे बेहतर बनाने हेतु भौतिक

ज्ञान और कलाओं की पहचान और उसकी एक सुव्यवस्थित समझ भी रही है (यजुर्वेद, 1973, 30.4-22; कामसूत्र, 2001, 1.3.15; द्विवेदी, 1963, पृ.1-2, 157-172)।

बेन्थम (1781) ने व्यक्ति के भौतिक जीवन के कुशल-क्षेम और सुख में वृद्धि तथा समाज के लिए भौतिक रूप से उपयोगी इस ज्ञान को उपयोगी ज्ञान का नाम दिया (पृ. 14-15)। उसने ज्ञान की उपयोगिता और सुविधा पर बल देते हुए अनुभव-आधारित वैज्ञानिक व व्यावसायिक कौशलों की शिक्षा पर भी बल दिया (बेन्थम, 1816, VIII. VI)। स्पेंसर (1861/1884, 8 मई) ने भी उदार शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा व्यावहारिक और वैज्ञानिक ज्ञान की शिक्षा को अधिक उपयोगी माना (पृ. 79)। अमरीकी शिक्षा-शास्त्री जॉन डीवी ने भी शिक्षा में व्यावहारिक रूप से उपयोगी, अनुभव और रुचि आधारित व्यावसायिक और वैज्ञानिक-तकनीकी शिक्षा को महत्त्वपूर्ण मानते हुए तात्कालिक जीवन से असम्बद्ध ज्ञान को अनुपयोगी माना (ओड़, 1973/2008, पृ. 78)। डीवी का मानना है कि शिक्षा किसी जीवन की तैयारी के लिए नहीं होती, बल्कि समाज में प्राप्त होने वाले अनुभवों की रचना और पुनर्रचना से वर्तमान की समस्याओं के समाधान में सक्षम बनाने की जीवनपर्यंत चलने वाली प्रक्रिया है। अतः वह मानता है कि जटिलताओं से मुक्त एक सरल समाज में तो शिक्षा पूरी तरह संस्थाओं से बाहर अनौपचारिक रूप से भी हो सकती है (बटलर, 1951/1957, पृ. 480-81)। डीवी ने पारम्परिक विद्यालयों की जगह शिक्षा के लिए जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं और उसकी पूर्ति हेतु सामुदायिक रूप से की जाने वाली व्यावसायिक गतिविधियों से प्राप्त क्रियात्मक अवसरों और उसमें कार्य-विभाजन, सहयोग और बौद्धिक आदान-प्रदान के माध्यम से शिक्षा की जरूरत पर बल दिया है (मेह्यू एवं एडवर्ड्स, 1936, पृ. 5)। गांधी तो उस शिक्षा को शिक्षा ही नहीं मानते, जिसमें केवल तार्किक कुशलता व भाषाई पाण्डित्य हो और वह जीवन-निर्वाह का साधन न दे सके। वे वर्धा सम्मेलन में अपनी बेसिक शिक्षा योजना के संबंध में कहते हैं कि तथाकथित उदार शिक्षा के साथ कुछ हस्तशिल्प की शिक्षा देना इसका उद्देश्य नहीं, बल्कि पूरी शिक्षा ही उद्योग के व्यावहारिक प्रशिक्षण के माध्यम से दी जाए (वर्के, 1939/1940, पृ. 26)। भौतिक जीवन की आवश्यकताओं से जुड़ी इस व्यावसायिक-तकनीकी ज्ञान-कौशल की प्रशिक्षण आधारित शिक्षा को ही उपयोगी शिक्षा के रूप में परिभाषित किया जाता है।

यह हमारा सौभाग्य रहा कि भारत में उदार और उपयोगी दोनों तरह की शिक्षा की एक समृद्ध परम्परा रही है। भारत संस्कृति के विविध पक्षों के सम्बन्ध में अपने उदात्त चिन्तन के लिए भी जाना गया तो सभ्यताई श्रेष्ठता के लिए भी। सरस्वती-सिंधु सभ्यता से लेकर विभिन्न राजवंशों के विशाल साम्राज्यों के वैभव गढ़ने में निश्चित ही उस शिक्षा का योगदान महत्त्वपूर्ण रहा है, जो उपयोगी माने जाने वाली लौकिक शिक्षा के रूप में आम-जन द्वारा अपने उद्यम और कौशल से अर्जित की गई और परिवारों की पहचान बन पीढ़ी-दर-पीढ़ी विकसित और स्थानांतरित होती रही।

हालाँकि आधुनिक विद्यालयी शैक्षिक परम्परा में परिवार-केन्द्रित श्रम व कौशल आधारित उपयोगी शिक्षा की परम्परा को वह स्थान नहीं मिल सका, जो स्थान धर्म, दर्शन, साहित्य केन्द्रित उदार शिक्षा की परम्परा को मिला। जब हम प्राचीन भारत में भी शिक्षा की बात करते हैं, तो हमारा सीधा तात्पर्य गुरुकुलों और बौद्ध विहारों में दी जाने वाली धर्म, दर्शन, साहित्य, व्याकरण, ज्योतिष, जैसे विषयों की शिक्षा से ही होता है, जिस कारण उपयोगी शिक्षा के नाम से जानी जाने वाली शैक्षिक परम्परा के साथ इतिहास में वह न्याय नहीं हो सका, जिसकी वह हकदार थी। साथ ही इस शैक्षिक परम्परा के साथ किए जा रहे अन्याय के माध्यम से ही इस परम्परा से जुड़े लोगों के प्रति षड्यंत्रपूर्वक शैक्षिक अन्याय का जातीय विमर्श भी स्थापित किया जाता रहा और इस माध्यम से सामाजिक समरसता को प्रभावित करने

की कोशिशें भी की जाती रहीं। ऐसी परिस्थिति में अब यह जानना महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि भारत में प्राचीन काल से आम जन की शिक्षा किन-किन रूपों में किस-किस तरह से चलती रही, शिक्षा की अलग-अलग क्या परम्पराएँ रहीं और किन कारणों से ये परम्पराएँ एक दूसरे से अलग हुईं, कौन से ऐसे कारण रहे, जिससे भारत में उपयोगी शिक्षा की परम्परा को उदार शिक्षा से हेय मान केवल उपेक्षित ही नहीं समझा गया, बल्कि इसे शिक्षा मानने से ही इंकार कर दिया गया, जिससे इस शैक्षिक परम्परा से जुड़े लोगों को शिक्षा से ही वंचित मान लिया गया। इन्हीं प्रश्नों के उत्तरों की खोज इस अध्ययन का उद्देश्य है।

प्राचीन भारत में कौशल आधारित शिक्षा की परम्परा

प्राचीन काल से ही भारत में ज्ञान के लगभग सभी ज्ञात क्षेत्रों के अध्ययन की व्यवस्था रही है (छान्दोग्य उपनिषद, 1994, 7.1.2; 7.2.1), जिसके माध्यम से हम अपनी रुचि, क्षमता व अन्य वैयक्तिक विशिष्टताओं के अनुरूप ज्ञान प्राप्ति के प्रयासों में जुटे रहे। साथ ही व्यक्ति की रुचि, क्षमता के अनुरूप ज्ञान-कर्म के विभिन्न क्षेत्रों के विभाजन की चातुर्वर्ण व्यवस्था भी भारतीय समाज की एक महत्त्वपूर्ण विशिष्टता रही, जिसे गांधी ने एक मौलिक, प्राकृतिक और आवश्यक विभाजन माना (बोस, 1948, पृ. 233)। मूलतः कार्य विभाजन की यह व्यवस्था वर्गीय प्रतिद्वन्द्विता कम कर, परस्पर निर्भरता के समाज दर्शन की उपज थी, जिसमें व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुरूप ज्ञान और कर्म के क्षेत्र का वरण (टिप्पणी 1) स्वयं एवं समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारियों का निर्वहन कर सके। इसी व्यवस्था के तहत धर्म, दर्शन, साहित्य, ज्योतिष, जैसे उदार विषयों से संबंधित ज्ञान-कर्म से जुड़े वर्ग को ब्राह्मण, तो राजकीय शासन-प्रशासन, रक्षा व सैन्य विषयों से जुड़े वर्ग को क्षत्रिय, कृषि, पशुपालन व व्यापार से जुड़े लोगों को वैश्य व कृषि, पशुपालन, उत्पादन-निर्माण संबंधित श्रम-सेवा से जुड़े उत्पादक वर्ग को शूद्र वर्ण माना गया। सभी वर्ण के लोगों के लिए अपने वर्ण के लिए निर्धारित कर्म के अनुरूप शिक्षा प्राप्त करना और उस अनुरूप समाज में अपना योगदान देना ही समाज का आदर्श रहा।

प्रारम्भिक दौर में निश्चित ही आध्यात्मिक और लौकिक ज्ञान आधारित सभी तरह की शिक्षा का केन्द्र परिवार ही थे (अलतेकर, 1955/2014, पृ. 170)। लेकिन अमूर्त प्रकृति की प्रधानता वाले परा और धर्म, दर्शन, साहित्य, ज्योतिष, जैसे क्षेत्रों से संबंधित कई तरह के अपरा ज्ञान (टिप्पणी 2) की प्राप्ति हेतु ध्यान, योग की आवश्यकता रही तो उच्चारण संबंधित क्लिष्टता और उसकी शुद्धता बनाए रखने हेतु लेखन से दूरी बनाते हुए वाचिक परम्परा अपनाई गई (मुकर्जी,1947, पृ. xxxi, 18, 20, 27)। इसके साथ ही कागद और मुद्रण-कला की उपलब्धता से जुड़ी समस्याओं के कारण लेखन-कार्य के श्रमसाध्य होने से सभी के लिए लिखित ज्ञान की अनुपलब्धता (अलतेकर, 1955/2014, पृ. 127) ने इस ज्ञान के लिए गुरु का साहचर्य, कठोर अनुशासन और एकांत वातावरण ज्यादा उपयुक्त बनाया होगा (मुकर्जी,1947, पृ. xxxiv)। यही वे कारण रहे होंगे, जिससे गुरुकुलों की आवश्यकता बढ़ी होगी।

हालाँकि अपने प्रारंभिक दौर में कुछ गुरुकुल, विहार व विद्यापीठ बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास से संबंधित धर्म, दर्शन, साहित्य, खगोल शास्त्र, जैसे उदार विषयों की शिक्षा के साथ कौशल आधारित सैन्य, चिकित्सा, नृत्य, संगीत के साथ उद्योग और व्यवसायों के लिए उपयोगी मानी गई लौकिक शिक्षा के भी केंद्र रहे (अलतेकर, 1955/2014, पृ. 30-33, 111,137-149; मुकर्जी,1947, पृ. xxix, xxx, 487-491)। इसके साथ ही जहाँ उदार मानी गई शिक्षा गुरुकुलों, बौद्ध विहारों, विद्यापीठों के अतिरिक्त मठों, देवालयों के साथ जुड़ी पाठशालाओं, अग्रहारों

व परिवारों (अलतेकर, 1955/2014, पृ. 26, 27, 78) में भी कुछ सीमा तक चलती रही, तो गुरुकुलों व विहारों के समानान्तर व्यापार, प्रशासन, उत्पादन और निर्माण से संबंधित कौशल व तकनीक आधारित व्यावसायिक उपयोगी शिक्षा की एक औपचारिक व्यवस्था परिवारों (अलतेकर, 1955/2014, पृ. 12, 141-145), व्यापारिक व शिल्प संघों (याज्ञवल्क्य स्मृति,1993, 2.184; नारद स्मृति, 2023, 5 .16; मुकर्जी, 1947, पृ. 352-353), शिल्प कौशल आधारित गुरुकुलों (याज्ञवल्क्य स्मृति, 1993, 2.184; थपल्याल, 1996, पृ. 78) व कौशल प्रशिक्षण केन्द्रों (अलतेकर, 1955/2014, पृ. 146-147; बृहस्पति स्मृति, 1941, 15.7) के माध्यम से भी चलती रही। लेकिन समय के साथ और जरूरतों के अनुरूप नए कौशलों और व्यवसायों की बढ़ती श्रृंखला और उसके विस्तार ने निश्चित ही किसी नई व्यवस्था के लिए रास्ता बनाया होगा, जिसका परिणाम यह रहा कि उदार और उपयोगी शिक्षा के केंद्र अलग-अलग बनते गए। लेकिन आम जन की भौतिक जरूरतों व समृद्धि के साधनों के निर्माण, उत्पादन व वितरण से जुड़ी विभिन्न तरह के कौशलों व प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित लौकिक व मूर्त प्रकृति के व्यावसायिक ज्ञान की उपयोगी शिक्षा का धन व श्रम की अतिरिक्त माँग के कारण संस्थानीकरण व्यापक स्तर पर सम्भव नहीं हो पाया होगा और परिवार ही इस शिक्षा के केंद्र बनने को विवश हुए होंगे, जिससे बाद के वर्षों में यह उपयोगी शिक्षा व्यवस्था कुल और परिवार का ही प्रमुख दायित्व बनती गई तो गुरुकुलों के रूप में विद्यालयी परम्परा वाली शिक्षा मुख्य रूप से उदार शिक्षा के ही केंद्र बनते गए।

परिवार में चलने वाली उत्पादन-निर्माण संबंधी उपयोगी शिक्षा का उदार शिक्षा की अपेक्षा अर्थोपार्जन से सीधा जुड़ना और रोजगार का आश्वासन इस पारिवारिक शिक्षा के प्रति आकर्षण का कारण भी बना होगा, जिससे उत्पादक वर्ग उदार शिक्षा से दूर होता गया होगा और संभवतः इस कारण उपनयन संस्कार व गुरुकुलों की वैदिक शिक्षा का अधिकार खोता गया होगा। फिर भी वैदिक साहित्य में कर्म आधारित वर्ण-व्यवस्था के तहत ऐसे तमाम उदाहरण मिलते हैं, जहाँ एक ही परिवार के लोग अपने गुणों के आधार पर अलग-अलग कार्यों का वरण कर अलग वर्ण के होते थे या वर्ण परिवर्तन कर लेते थे (अलतेकर, 1955/2014, पृ. 30-31; मुकर्जी,1947, पृ. xxxi; बाशम, 1954, पृ. 146)। वैदिक समाज में जहाँ वर्ण परिवर्तन भी संभव रहा और शूद्र वर्ण में उत्पन्न व्यक्तियों को भी वैदिक ज्ञान, संस्कार का अधिकार भी रहा, वे द्विजों की तरह ऋषि और राजा भी हुए (बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय (खण्ड-7), 1995/2020, पृ. 311-312)। परंतु किसी भी तरह की शिक्षा हेतु शिष्य की रुचि, क्षमता की भूमिका और इसके निर्धारण में आनुवांशिकता और परिवेश की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है (मुकर्जी, 1947,पृ. xxvii)। इसके साथ ही व्यक्ति में परिवार और परिवेश से अलग गुणों की पहचान में आने वाली समस्या निश्चित ही वे कारण रहे होंगे, जिस कारण व्यक्ति की शिक्षा परिवार के पेशे के साथ ही जुड़ती गई और कर्म आधारित वर्ण-व्यवस्था जन्म आधारित बनती गई (राधाकृष्णन, 1927, पृ. 571)। फिर भी यह व्यवस्था काफी लचीली रही, इस बात के भी स्पष्ट प्रमाण हैं कि ब्राह्मण युद्ध और व्यापार, जैसे वैदिकेतर विषयों की शिक्षा देते थे (अलतेकर, 1955/2014, पृ. 31-32) और प्राप्त भी करते थे (कौटिलीय अर्थशास्त्र, 2024, 1. 2-5), साथ ही अब्राह्मण द्विज वर्ग के आचार्य और ब्रह्मचारी भी वैदिक शिक्षा देने (अलतेकर, 1955/2014, पृ. 31) व प्राप्त करने के अधिकारी थे (अलतेकर, 1955/2014, पृ. 33; कौटिलीय अर्थशास्त्र, 2024, 1.3.4-8)। वैदिक साहित्य में सभी वर्णों के लिए ज्ञान के प्रकाश और कल्याण की कामना (यजुर्वेद, 1973, 18.48, 26.2) प्रारम्भ से ही प्रतिध्वनित होती रही है। प्रारंभिक वैदिक काल में वेद-मन्त्रों को कंठस्थ करने की जिम्मेदारी भले ही पुरोहित वर्ग के ऊपर रही हो लेकिन योद्धा, कृषिकार और कारीगर भी चुने हुए मन्त्रों को कंठस्थ रखता था (अलतेकर, 1955/2014, पृ. 108), उपनिषदों के काल तक भी सभी को शिक्षा उपलब्ध

रही और सभी के द्वारा इसे प्राप्त कर विद्वता प्राप्त करने का वर्णन भी आता है (छान्दोग्य उपनिषद, 1994, 5.11.5)। क्षत्रिय, वैश्य के साथ शूद्र वर्ण को आयुर्वेद की शिक्षा देने का भी प्रमाण मिलता है (अलतेकर, 1955/2014, पृ. 210), बाद के काल में भी प्राथमिक स्तर की आवश्यक विषयों की शिक्षा भी सभी को गाँव की पाठशाला या किसी पण्डित के घर या स्वयं के परिवार में मिल जाती थी, क्योंकि बिना इसके ज्यादातर व्यवसायों में अपने पेशे से संबंधित कार्य कर पाना कठिन रहा होगा। धर्मपाल (1983/2007) भी मानते हैं कि ब्रिटिश शिक्षा प्रणाली के अस्तित्व में आने के पूर्व भारत में समाज के सभी वर्ग, सभी क्षेत्र के लोग जाति आदि की रुकावटों के बिना पाठशालाओं में एक साथ शिक्षा प्राप्त करते थे (पृ.77), इनके दिए आँकड़े भी स्पष्ट करते हैं कि ब्रिटिश-पूर्व भारत में शूद्र वर्ण के लोग भी बड़ी संख्या में विद्यालयों में प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करते थे। (टिप्पणी 3) ब्रिटिश अधिकारियों ने भारत में ब्रिटिश पूर्व देशी शिक्षा के संबंध में जो विवरण और अध्ययन प्रस्तुत किए हैं, उससे स्पष्ट है कि इस वर्ग को उपनयन व वैदिक शिक्षा का अधिकार भले न रहा हो लेकिन अपनी जरूरतों के अनुरूप शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार भी था और इस वर्ग के बहुत से लोग न केवल उन देशी विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, बल्कि शिक्षण भी कर रहे थे (धर्मपाल , 1983/2007, पृ. 255, 305, 306 एवं आगे)। लेकिन पिता का अपना ज्ञान-कौशल, पहचान, पुत्र को सौंपने से जुड़ा स्वाभाविक प्रेम, परिवार-परिवेश से जुड़े कार्यों के प्रति लगाव, योग्यता, रुचि और इनसे संबंधित ज्ञानार्जन में सुविधा भी वे कारण बने होंगे, जिनसे व्यक्ति अपने पारिवारिक ज्ञान-कौशल से जुड़ा होगा, जिससे समय के साथ धीरे-धीरे उच्च शिक्षा और कार्य-व्यवसाय आनुवांशिकी आधारित होते गए (अलतेकर, 1955/2014, पृ. 12)।

संभवतः घर का व्यवसाय छोड़ कर किसी विद्यालय में अनुत्पादक उच्च शिक्षा हेतु अपने धन, श्रम व समय का निवेश करना उनके लिए संभव भी नहीं हो पाया होगा। यही कारण रहा होगा कि ब्रिटिश पूर्व भारतीय विद्यालयों में प्राथमिक स्तर पर इन वर्गों की ठीक-ठाक संख्या दिखती है (टिप्पणी 3), लेकिन उच्च शिक्षा में यह संख्या बहुत ही कम दिखाती है। (टिप्पणी 4) मूलतः इनकी उच्च शिक्षा भौतिक ज्ञान और कला आधारित रही, जो बहुत हद तक आनुवांशिक आधार पर परिवारों के माध्यम से ही चलती रही (एपिग्राफिका इंडिका (खण्ड-24), 1942, पृ. 64; थपल्याल, 2001, पृ. 997)। अतः उस विद्यालयी परम्परा से इनकी स्वाभाविक रूप से दूरी रही जिसमें समय के साथ धार्मिक कर्मकाण्ड और दार्शनिक आख्यानों की प्रचुरता होने लगी थी (दिनकर, 1956, पृ. 422) और यहाँ प्राप्त होने वाली शिक्षा का अर्थोपार्जन से सीधा और बहुत गहरा संबंध कम था।

यह शिक्षा परिवार में रोजमर्रा के कार्यों के साथ ही परिवार की सुविधा और पेशे की प्रकृति के अनुरूप कुछ निश्चित अवधि में चलती रहती थी, इसलिए परिवार व कुल के बाहर के लोगों के लिए इस व्यवस्था में यह शिक्षा ले पाना सम्भव नहीं हो पाया होगा। कई विशिष्ट कौशलों के प्रशिक्षण में कच्चे माल के अपव्यय की सम्भावना अवश्य रहती है, परिवार व निकट सम्बन्धियों से इतर लोगों के लिए अपने संसाधनों का अपव्यय करने देने की उदारता बहुत कम लोगों के लिए ही संभव हो पाती है। इसके साथ ही उस ज्ञान-कौशल को जिसमें आर्थिक लाभ के अवसर सीमित रहे, मुख्य शिल्पी द्वारा उसे अनिवार्य रूप से आनुवांशिक आधार पर ही स्थानांतरित करने की परम्परा भी रही (मैक्सवेबर, 1916/1958, पृ. 34), जिसने निश्चित ही अपने परिवार के बाहर पेशेवर ज्ञान के प्रवाह को अवरुद्ध किया होगा और विस्तृत परिवार या कुल के रूप में रक्त संबंध व पेशा आधारित संगठित व्यवस्था जन्म लेकर व्यवसाय आधारित किसी विशिष्ट पहचान से जुड़ गई होगी, जो जाति के रूप में जानी गई होगी।

लेखन कार्य के श्रम साध्य होने से लिखित ज्ञान का स्थान और समय के साथ सुरक्षित रूप में स्थानान्तरण होने में समस्या ने भी इस कौशल आधारित ज्ञान को जाति और परिवार से बाहर जाने में बाधा पैदा की होगी। इसका परिणाम यह रहा कि प्रत्येक जाति की पहचान एक विशिष्ट ज्ञान व कौशल से अनुबन्धित होती गई, जिसके कारण अलग-अलग जातियों में उनके कार्य की प्रकृति व उसके अनुरूप किए जा रहे व्यवहार को लेकर एक जातीय लगाव और गौरव भी पनपा। इस प्रकार एक जाति का कौशल दूसरी जाति के लिए सीखना कठिन और अरुचिकर तो होता ही गया होगा। इसने जातीय गौरव और श्रेष्ठता-निम्नता को भी पोषित कर अंतर्जातीय वैवाहिक संबंधों को भी मुश्किल बनाया होगा। कुछ ऐसे शिल्प जिसमें अलग-अलग तरह के कौशलों व व्यक्तियों की जरूरत थी, वे कारखानों व शिल्प केन्द्रों में भी चलते रहे, वहीं पर नए प्रशिक्षुओं को प्रशिक्षण भी मिलता रहा, परन्तु शिल्प व व्यापारिक संघों का भी धीरे-धीरे जाति आधारित होते जाना (थपल्याल, 2001, पृ. 1002-03) किसी उत्पादन, कौशल, निर्माण व उससे संबंधित व्यवसाय को परिवार व जाति से जोड़ते हुए इस व्यवस्था के जन्मना बनने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी होगी। व्यवसाय के ही आधार पर जातियों व कुलों व कई बार उसी आधार पर ग्रामों के नाम होना (मेहता,1939, पृ. 213-215) भी कुछ ऐसे ही निष्कर्ष देते हैं। परिवार में ही इस शिक्षा का केन्द्र होने के कारण बेहतर प्रशिक्षण और सृजनात्मकता के उपलब्ध अवसर इनके उत्पादन को अद्यतन और आकर्षक बनाने में निश्चित ही महत्त्वपूर्ण भूमिका भी निभाते रहे (अलतेकर, 1955/2014, पृ. 12; थपल्याल, 2001, पृ. 997), जिसने इस परिवार में चलने वाली इस शैक्षिक परम्परा को आर्थिक हितों से जोड़ते हुए स्थायित्व भी प्रदान किया। स्थिति तो यहाँ तक रही कि अपने विशिष्ट और मौलिक पेशेवर ज्ञान को, जो उनके उत्पाद की श्रेष्ठता निर्धारित कर आर्थिक हितों से गहरे जुड़ गए थे, उन्हें किसी अन्य जाति के साथ साझा करने पर रोक थी। ऐसा करने से उस ज्ञान पर अपना एकाधिकार समाप्त होने का भय रहता था, जिससे ऐसा करना अपनी जाति के हितों से विश्वासघात माना जाने लगा और उस व्यक्ति को सामाजिक दण्ड प्राप्त करने का अधिकारी भी माना जाने लगा (धर्मपाल, 1983/2007, पृ. 54)। पाटिल (2024) भी शिल्प प्रशिक्षक द्वारा अपने शिष्यों को अपने ज्ञान की गोपनीयता बनाए रखने की शपथ दिलाने की चर्चा करती हैं (पृ. 19)। कुछ उदाहरण तो आज भी ऐसे मिलते हैं कि किसी व्यक्ति द्वारा अर्जित किसी विशिष्ट कौशल पर अपना प्रभुत्व और एकाधिकार बनाए रखने के लिए वे उसे अपने पुत्रों-पुत्रियों के सिवाय किसी अन्य के साथ साझा नहीं करते हैं। यह मानवीय कमजोरी है कि अन्य किसी भी तरह के ज्ञान को वह भले दूसरों को दे दें, लेकिन जिस ज्ञान से कोई महत्त्वपूर्ण हित जुड़ जाता है, उसका अधिकतम लाभ वह अपने पुत्र-पुत्री या परिवार को ही देना चाहता है। कुछ तो ऐसे भी उदहारण मिलते हैं कि लोग अपने ही परिवार की लड़कियों तक को अर्जित विशिष्ट कौशल नहीं सिखाते हैं, जिससे उनके विवाह के बाद वह कौशल उन्हीं की जाति के दूसरे परिवार में न पहुँच जाए और उस कौशल पर उनका एकाधिकार न समाप्त हो जाए। यही कारण रहा कि शिक्षा की यह परम्परा मूलतः परिवार के माध्यम से ही चलती रही।

भारत की समृद्धि में उपयोगी शिक्षा की भूमिका

निश्चित ही गुरुकुलों व विहारों में दी जाने वाली उदार शिक्षा बौद्धिक श्रेष्ठता प्रदान करते हुए न केवल हमारी संस्कृति के विभिन्न पक्षों को पोषित करती रही, बल्कि अपने चिंतन की गहराई से पश्चिम पर भी श्रेष्ठता स्थापित करते हुए (केजरलिंग, 1925, पृ. 273) यूरोपीय मस्तिष्क और ईसाई प्रज्ञानवाद के निर्माण में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती रही (होपकिंस, 1895, पृ. 560); तो वहीं दूसरी तरफ उपयोगी मानी गई व्यावसायिक व तकनीकी कौशलों की शिक्षा ने न केवल हमारी सभ्यता को वैज्ञानिकता और भव्यता प्रदान की, बल्कि मानव मस्तिष्क और हाथ के उपयोग से

दुनिया में ज्ञात हर तरह के उपयोगी और आकर्षक उत्पादनों और निर्माणों से दुनिया की ज्ञात लगभग सभी सभ्यताओं को परिचित भी कराया और उपलब्ध भी कराया (सुन्दरलैंड, 1928, पृ. 201-202)।

हालाँकि उपनिषदों, बौद्ध और जैन मतों से निवृत्ति की गूँज निकलती रही (दिनकर, 1956, पृ. 154), जो हमारी दार्शनिक परम्परा को एक विशिष्ट गहराई प्रदान करती हुई हमें आध्यात्मिक चिन्तन के शिखर पर ले जाती है। (टिप्पणी 5) लेकिन यह निवृत्ति भौतिक उपलब्धियों से निवृत्ति नहीं बल्कि भोग में लिप्ति से निवृत्ति की बात करती है, त्याग की भावना के साथ भोग करने की बात करती है। (टिप्पणी 6) गीता में तो कृष्ण सारे भ्रम यह कह दूर कर देते हैं कि विरक्ति कर्मफल की इच्छा से करो, कर्म से नहीं (भगवद्गीता, 2018, 2.47)। निवृत्ति और प्रवृत्ति का बड़े ही सहज ढंग से समन्वय कर वे उद्यम हेतु ही तो प्रेरित करते हैं (राधाकृष्णन,1923, पृ. 569)। उद्यम से ही कार्य सिद्ध होते हैं (हितोपदेश, 1894, प्रस्ताविका, श्लोक 36), कर्म की कुशलता ही योग है (भगवद्गीता, 2018, 2.50), जैसे संदेश भारतीय चेतना में प्राचीन काल से ही व्याप्त होते रहे। परिणाम यह रहा कि अपनी रुचि, क्षमता के अनुरूप वरण किए गए लौकिक या आध्यात्मिक ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों (भगवद्गीता, 2018, 4.13; मुकर्जी, 1947, पृ. Xxi) में हम उद्यमशील रहकर अपने ज्ञान-कौशल से दुनिया को चकित करते रहे (दूरांत, 1930, पृ. 3-6)।

भारत के उत्पादक वर्ग ने अपने पारिवारिक और जातीय कौशलों की शैक्षिक परम्परा के माध्यम से भारत को जो सभ्यतागत वैभव प्रदान किया, वह आज भी हमें गौरवान्वित करता है। इतना ही नहीं, तमाम आर्थिक इतिहासकारों द्वारा दिए गए आँकड़े यह स्पष्ट करते हैं कि पहली शताब्दी में ही हम पूरी दुनिया के सकल घरेलू उत्पाद में 32.9 प्रतिशत तक की हिस्सेदारी रख रहे थे (मैडिसन, 2001, पृ. 263)। मैडिसन के दिए आँकड़े बताते हैं कि तमाम बाहरी आक्रमणों के दौर में कमी होने के बावजूद 1700 ई. में भी यह 24.4 प्रतिशत तक था, जो ब्रिटिश दौर के अन्त तक 1950 ई. में गिरकर 4.2 प्रतिशत तक आ गया। पश्चिमी विद्वान सुन्दरलैण्ड तो कहते हैं कि जो लोग आज हिन्दुओं की गरीबी और शारीरिक कमजोरी देख चुके हैं, वे शायद ही यकीन कर पाएं कि भारत की समृद्धि ने ही इंग्लैंड व फ्रांस के व्यापारिक समुद्री लुटेरों को अपनी ओर आकर्षित किया था (दूरांत, 1930, पृ. 8)। उत्पादक वर्ग द्वारा उत्पादित यही वे उत्पाद थे, जिनके निर्यात के बदले यूरोप से महँगी धातुएँ भारत में आकर उसे सोने की चिड़िया बना रही थीं। इसी कारण पहली शताब्दी के प्लिनी (टिप्पणी 7) से लेकर 18वीं शताब्दी के एडम स्मिथ (टिप्पणी 8) तक अनेक लेखक यूरोप से भारत में धन के प्रवाह को लेकर चिन्तित रहे।

विद्यालयी शिक्षा का रोजगार से जुड़ना और उत्पादक वर्ग की शैक्षिक समस्या

ब्रिटिशर्स जब भारत में आए तो धीरे-धीरे व्यापार, प्रशासन और फिर उत्पादन पर अपना नियंत्रण स्थापित कर उन्होंने धन के बहाव की दिशा को उलट दिया। ब्रिटिश प्रभुत्व का यह वह दौर था, जब अपनी जरूरतों के अनुरूप लोगों को तैयार करने के लिए उन्होंने विद्यालय खोलने शुरु किए और वहाँ मिल रही शिक्षा को ही सरकार द्वारा दी जाने वाली महत्त्वपूर्ण नौकरियों के लिए आवश्यक माना (नुरुल्ला एवं नायक, 1943, पृ. xviii)। भारत में ब्रिटिश-पूर्व उच्च शिक्षा जो बहुधा सीधे रोजगार से नहीं जुड़ पाई थी, कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाए तो मूलतः धर्म, दर्शन, साहित्य, व्याकरण, कर्मकांड, खगोलशास्त्र, जैसे विषयों तक अपने को सीमित किए हुए थी, अब वह ब्रिटिशर्स के हाथों में जाते ही रोजगारपरक स्वरूप ग्रहण करने लगी। अंग्रेजों द्वारा शुरु किए गए विद्यालय भारतीय परम्परा के विद्यालयों व गुरुकुलों से इतर उदार और उपयोगी शिक्षा पर बल देने लगे। अब इन विद्यालयों में धर्म, दर्शन, साहित्य के साथ

आधुनिक गणित, विज्ञान, तकनीकी और विभिन्न उपयोगी और आधुनिक कौशलों की भी सैद्धांतिक और प्रायोगिक शिक्षा दी जा रही थी। भारतीय जनमानस का एक हिस्सा अब मजबूरी या इच्छा से अंग्रेजों के विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने लगा व विद्यालयी परम्परा में पहले से अनुकूलित होने के कारण उसे अंग्रेजी परम्परा के विद्यालयों में भी कोई विशेष परेशानी नहीं हुई। हालाँकि ब्राह्मणों का एक वर्ग अभी भी अपनी प्राचीन परम्परागत शिक्षा से ही संतुष्ट था और अपनी संख्या व महत्त्व के अनुपात में अंग्रेजी शिक्षा उस तरह नहीं ले रहा था, जिस रूप में वह इसके लिए सक्षम था और इससे अन्य जातियों को लाभ भी मिल रहा था (शेरिंग, 1872, पृ. 4-5)। फिर भी मुख्यतः बहुतायत संख्या में ब्राह्मण, कायस्थ व वैश्य जातियों के लोग अब अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर रहे थे (शेरिंग, 1872, पृ. 5), जिससे वे सरकारी नौकरी या बौद्धिक क्षमता से संबंधित विभिन्न अन्य व्यवसायों को अपना रहे थे। कुछ वर्गों को मार्शल जाति का मान कर सेना या पुलिस भर्ती में सहूलियत भी दी जा रही थी (मैकमन, 1933, पृ. 220-225; श्रीनिवास, 1967, पृ. 71)। हालाँकि कर बहुत बढ़ गए थे (दूरांत, 1930, पृ. 20-22), फिर भी व्यापारी वर्ग को भी उत्पादक और उपभोक्ता के बीच का मध्यस्थ होने के कारण रोजगार के संबंध में कोई विशेष समस्या नहीं हुई। उत्पादक ही बदले थे, उत्पाद तो ब्रिटेन से आ ही रहा था। वहीं दूसरी तरफ भूमि, कृषि व उत्पादन पर ब्रिटिश नियंत्रण, 'अनियंत्रित कर' और वहाँ की औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप यहाँ का उत्पादक वर्ग बेरोजगार होकर मजदूर या सफाईकर्मी बनता गया (दूरांत, 1930, पृ. 32)। कार्ल मार्क्स, जो सांस्कृतिक कारणों से भारत में ब्रिटिशर्स के शासन को उचित ठहराता था (मार्क्स, 8 अगस्त 1853), वह तक अपने लेख में कहता है कि ब्रिटिश नीतियों के कारण भारत के उद्योग नष्ट होते गए और भारत निर्यातक से आयातक बन गया और एक बड़ी आबादी जो आर्थिक रूप से समृद्ध थी, बेरोजगार हो गई (मार्क्स, 25 जून 1853)। इसके साथ ही उत्पादक वर्ग विद्यालयी परम्परा में उचित ढंग से अनुकूलित न हो पाने के कारण, अंग्रेजों द्वारा उपयोगी ज्ञान में अन्य लोगों से बेहतर माने जाने (बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय (खण्ड-4), 1994/2020, पृ.120) के बावजूद भी उनके द्वारा शुरु की गई विद्यालयी शिक्षा को ब्राह्मणीय कार्य मानकर इससे भी दूर ही रह गया (बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय (खण्ड-4), 1994/2020, पृ. 132), जो अब सीधे रोजगार से जुड़ गई थी। हालाँकि यदि प्राथमिक स्तर पर शिक्षा संबंधी इन पूर्वाग्रहों के बावजूद उत्पादक वर्ग से शिक्षा लेने वाले लोगों की संख्या कुछ ठीक थी (बम्बई प्रेसिडेंसी के आंकड़ों हेतु देखें, बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय (खण्ड-4), 1994/2020, पृ.121-127; धर्मपाल (1983/2007) द्वारा ब्रिटिश-पूर्व देशी विद्यालयों के संबंध में दिए गए आँकड़ों हेतु पूर्व की टिप्पणी 3 एवं 4 भी देखें), लेकिन उच्च शिक्षा में इनकी संख्या बहुत ही कम थी।

पारिवारिक कौशल व श्रम से कम उम्र में ही कुछ न कुछ अर्थोपार्जन के लिए तैयार करने वाली पारिवारिक शिक्षा परम्परा के स्थान पर विदेशी भाषा में पुस्तकीय ज्ञान आधारित विद्यालयी व्यवस्था की बोझिल, अनुशासनपूर्ण दिनचर्या व रटने पर आधारित लम्बी चलने वाली शिक्षा से पहले से बने अलगाव और अरुचि के साथ ही जागरूकता का अभाव भी वे कारण हो सकते हैं, जिससे उत्पादक वर्ग ने ब्रिटिश काल में भी उच्च शिक्षा से दूरी बनाए रखा, जिसका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश नीतियों का सबसे बुरा प्रभाव भारत के उत्पादक वर्ग पर ही पड़ा, जो विद्यालयी शिक्षा से भी वंचित हो रहा था और साथ ही कृषि, उत्पादन तथा निर्माण पर अपना नियंत्रण खोते ही वह बेरोजगार भी होता गया।

अतः यह स्पष्ट है कि शिक्षा के अधिकार से किसी वर्ग को वंचित करने के औपनिवेशिक इतिहासकारों द्वारा खड़े किए

गये विमर्श में इस बात को जोड़ना भी समीचीन होगा कि एक बड़े वर्ग में अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुरूप कौशल आधारित उपयोगी शिक्षा के प्रति आकर्षण रहा, जिससे वह औपचारिक उच्च शिक्षा से दूर होता गया और अपनी पारिवारिक कौशल आधारित उदार शिक्षा को केंद्र में रख कर श्रेष्ठ उत्पादों को तैयार करने वाला उत्पादक वर्ग बना और इस प्रकार इसने एक परम्परा का स्वरूप ले लिया। लेकिन जब ब्रिटिशर्स ने रोजगार को सीधे विद्यालयी शिक्षा से जोड़ दिया, तब यह वर्ग औपचारिक विद्यालयी परम्परा में अनुकूलित न होने के कारण शिक्षा और रोजगार दोनों से दूर होता गया। इसके साथ ही ब्रिटिशर्स ने अपने को दोषमुक्त करने व सामाजिक समरसता को अपने हितों के लिए प्रभावित करने के उद्देश्य से कुछ सन्दर्भ से परे ऐतिहासिक-पौराणिक सन्दर्भों के माध्यम से यह धारणा स्थापित की कि एक बड़े वर्ग को शिक्षा से ही वंचित रखा गया, जिससे उनकी आर्थिक-सामाजिक स्थिति प्रभावित हुई।

टिप्पणी

1. अम्बेडकर ने वर्ण-व्यवस्था के संबंध में वर्ण शब्द का अर्थ आस्था अर्थात अपनी आस्था के अनुरूप चयन माना है, वे इसे रंग-रूप से संबंधित नहीं मानते (बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय (खण्ड-13), 1998/2020, पृ. 71)।

2. मुण्डक उपनिषद (1935) 1.1.5 के अनुसार परा विद्या अंतिम सत्य की अनुभूति है और अपरा विद्या वेद, वेदांगों संबंधित व्यावहारिक ज्ञान है जो परा विद्या की प्राप्ति में सहायक है। कई विद्वानों ने इसी आधार पर आध्यात्मिक ज्ञान को परा और सभी तरह के लौकिक ज्ञान को अपरा माना है, जिसकी प्राप्ति के बिना आध्यात्मिक ज्ञान हेतु प्रयास ही संभव नहीं।

3. आंकड़ों हेतु देखें, धर्मपाल (1983/2007), पृ. 40,41,42, 95,97,110,114,126,144,146,148 एवं आगे। (देशी शिक्षा व्यवस्था पर ब्रिटिश सरकार की रिपोर्ट से प्राप्त आँकड़े)

4. आंकड़ों हेतु देखें, धर्मपाल (1983/2007), पृ. 37,102,104,112,117,119,122,124 एवं आगे। (देशी शिक्षा व्यवस्था पर ब्रिटिश सरकार की रिपोर्ट से प्राप्त आँकड़े)।

5. राधाकृष्णन (1927) ने इण्डियन फिलॉसफी (खण्ड -2), जॉर्ज एलन & उन्विन लिमिटेड, लन्दन (पृ. 657) में शंकर को दार्शनिक और तार्किक के रूप में सर्वश्रेष्ठ तथा उनके अद्वैत वेदांत दर्शन को सत्य का उच्चतम बौद्धिक विवरण माना।

6. देखें, ईशावास्योपनिषद का पहला मंत्र, जहाँ तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा कह कर सब कुछ ईश्वर का मान त्याग भाव से भोग की बात की गयी है।

7. पहली शताब्दी का रोमन लेखक प्लिनी द एल्डर (77/1848) अपनी पुस्तक नेचुरल हिस्ट्री (अंग्रेजी अनुवाद), 12.41.2 में अपने यहाँ की महिलाओं की विलासिता की वस्तुओं को भारत से क्रय करने में जा रहे धन को लेकर चिंता व्यक्त करता है।

8. स्मिथ (1776/1937) अपनी पुस्तक 'द वेल्थ ऑफ नेशन्स' में भारत और यूरोप के बीच व्यापार में यूरोप के घाटे में रहने की बात करते हैं (पृ. 417-419)।

सन्दर्भ सूची

अलतेकर, अ. स. (2014). प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति. अनुराग प्रकाशन, वाराणसी. (मूल रूप से 1955 में हिंदी संस्करण प्रकाशित)

ईशावास्य उपनिषद (अनु.). (1992). गीता प्रेस, गोरखपुर. (मूल रूप से प्राचीन काल की रचना)

एपिग्राफिका इंडिका (भारतीय पुरालेख) (अंक-24).(1942). गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया प्रेस,कलकत्ता.

ओड़, ल. का. (2008). शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि (दशवां सं.). राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर. (प्रथम संस्करण 1973 में प्रकाशित)

कामसूत्र (रा. शर्मा, अनु.). (2001). कृष्णदास अकादमी, वाराणसी. (मूल रूप से प्राचीन काल की रचना)

केजरलिंग, सी.एच. (1925). द ट्रेवल डायरी ऑफ अ फिलॉसफर (एक दार्शनिक का यात्रा वृत्तान्त). हरकोर्ट, ब्रेस एवं कंपनी, न्यूयॉर्क.

कौटिलीय अर्थशास्त्र (जी.पी. शास्त्री, अनु.). (2024). चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी. (मूल रूप से प्राचीन काल की रचना)

छान्दोग्य उपनिषद (अनु.). (1994). गीता प्रेस, गोरखपुर. (मूल रूप से प्राचीन काल की रचना)

डोरेन, वी.एम. (1943). लिबरल एजुकेशन (उदार शिक्षा). हेनरी होल्ट एण्ड कंपनी, न्यूयॉर्क.

त्रिपाठी, प्रेमवल्लभ. (1970). पुरुषार्थ चतुष्टय.चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी.

थपल्याल, के. के. (1996). गिल्ड्स इन एंसियेंट इण्डिया: अ स्टडी ऑफ गिल्ड आर्गेनाइजेशन इन नार्दर्न इण्डिया एंड वेस्टर्न डेक्कन फ्रॉम सेरका 600 बी.सी. टू सेरका 600 ए.डी. (प्राचीन भारत में व्यावसायिक संघ: ईसा पूर्व 600 से 600 ई में उत्तरी भारत और दक्कन में व्यवसायिक संगठन का अध्ययन). न्यू एज इंटरनेशनल, नई दिल्ली.

थपल्याल, के. के. (2001). गिल्ड्स इन एंसियेंट इण्डिया (एंटीक्यूटी एंड वेरियस स्टेजेज इन द डेवलपमेंट ऑफ गिल्ड्स अप टू ए डी 300) (प्राचीन भारत में व्यवसायिक संघ). इन जी. सी. पाण्डेय (एडि.), लाइफ थॉट्स एण्ड कल्चर इन इण्डिया. मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्रा. लि., डेल्ही.

दिनकर, रामधारी सिंह. (1956). संस्कृति के चार अध्याय. लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद.

दूरांत, विल. (1930). द केस फॉर इण्डिया (भारत का पक्ष). साइमन एंड स्कस्टर, न्यूयॉर्क.

द्विवेदी, हजारी प्रसाद. (1963). प्राचीन भारत का कला-विलास. अभिनव भारती ग्रंथमाला, कलकत्ता.

धर्मपाल (2007). रमणीय वृक्ष (र. का. जोशी एवं कृ. पा. सिं. भदौरिया, अनु.). पुनरुत्थान ट्रस्ट,अहमदाबाद. (मूल रूप से 1983 में प्रकाशित)

नारद स्मृति (ब्र. कि. स्वाई, अनु.) (2023). चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी. (मूल रूप से प्राचीन काल की रचना)

नुरुल्ला, एस., एवं नायक, जे .पी. (1943). हिस्ट्री ऑफ एजुकेशन इन इण्डिया: ड्यूरिंग द ब्रिटिश पीरियड (ब्रिटिश कालीन भारतीय शिक्षा का इतिहास). मैकमिलन एवं कं. लि., बॉम्बे.

पाटिल, कौमुदी. (2024). द आईडिया एंड ट्रेडिशन ऑफ क्राफ्ट्स इन भारत: अ हिस्टोरिकल पर्सपेक्टिव (भारत में शिल्पकला की अवधारणा और परम्परा का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य) (यूनिट-1). इंदिरा गांधी नेशनल ओपन यूनिवर्सिटी, न्यू दिल्ली. http://egyankosh.ac.in//handle/123456789/107722

प्लिनी द एल्डर. (1848). प्लिनीज नेचुरल हिस्ट्री इन थर्टी सेवेन बुक्स (प्लिनी द्वारा प्राकृतिक इतिहास के सैतीस खण्ड) (पी. हालैंड, अनु.). जार्ज बर्कले, लंदन. (मूल रूप से 77 में लिखी गई)

बटलर, जे.डी. (1957). फोर फिलॉसफीज एण्ड देयर प्रैक्टिस इन एजुकेशन एण्ड रिलिजन (चार मुख्य दर्शन और शिक्षा एवं धर्म में उनसे संबंधित अभ्यास) (पुन.सं.). हार्पर एवं ब्रदर्स पब्लिशर्स, न्यूयॉर्क. (मूल रूप से 1951 में प्रकाशित)

बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय (खण्ड-13). (2020). सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नयी दिल्ली. (मूल रूप से प्रथम हिंदी संस्करण 1998 में प्रकाशित)

बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय (खण्ड-4). (2020). सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नयी दिल्ली. (मूल रूप से प्रथम हिंदी संस्करण 1994 में प्रकाशित)

बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय (खण्ड-7). (2020). सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नयी दिल्ली. (मूल रूप से प्रथम हिंदी संस्करण 1995 में प्रकाशित)

बाशम, ए. एल. (1954). द वंडर दैट वाज इण्डिया (अद्भुत भारत). पिकाडोर, लंदन.

बृहस्पति स्मृति (रं. स्वा. शर्मा, संपा.). (1941). बड़ौदा ओरिएण्टल इंस्टीच्यूट, बडौदा. (मूल रूप से प्राचीन काल की रचना)

बेन्थम, जे. (1781). एन इंट्रोडक्शन टू द प्रिंसिपल्स ऑफ मोरल एंड लेजिस्लेशन [नैतिकता और विधि के सिद्धांत]. बाटोच बुक्स, किचनर, कनाडा.

बेन्थम, जे. (1816). क्रेस्टोमैथिआ (उपयोगी शिक्षा) (जे.पी. क्लेरो, अनु.). मेसर्स पेनी एण्ड फ़ॉस, लंदन.

बोस, एन. के. (1948). सेलेक्शंस फ्रॉम गांधी (गांधी के विचार). नवजीवन पब्लिशिंग हाउस,अहमदाबाद.

भगवद्गीता (स्वा.रामसुखदास, अनु.). (2018). गीता प्रेस, गोरखपुर. (मूल रूप से प्राचीन काल की रचना)

मनु स्मृति (रा.च. वर्मा, टीका.). (2024). प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली. (मूल रूप से प्राचीन काल की रचना)

मार्क्स, कार्ल (1853, 25 जून). द ब्रिटिश रूल इन इण्डिया (भारत में ब्रिटिश शासन). द न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून.

मार्क्स, कार्ल (1853, 8 अगस्त). द फ्यूचर रिजल्ट्स ऑफ ब्रिटिश रूल इन इण्डिया [भारत में ब्रिटिश शासन के परिणाम].

द न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून.

मुकर्जी, रा. कु. (1947). एंसिएंट इण्डियन एजुकेशन (प्राचीन भारतीय शिक्षा). मैकमिलन एंड कंपनी, लंदन.

मुण्डक उपनिषद (अनु.). (1935). गीता प्रेस, गोरखपुर. (मूल रूप से प्राचीन काल की रचना)

मेहता, आर. एन. (1939). प्री-बुद्धिस्ट इण्डिया (बौद्ध पूर्व भारत). एग्जामिनर प्रेस, बॉम्बे.

मेह्यू, के. सी. एवं एडवर्ड्स, ए. सी. (1936). द डीवी स्कूल (डीवी विद्यालय). डी. एप्लेटन-सेंचुरी कंपनी, न्यूयॉर्क.

मैकमन, जी. (1933). द मार्शल रेसेज ऑफ इण्डिया (भारत की लड़ाकू जातियाँ). सिम्पसन लो, मार्सटन एवं कं. लि., लंदन.

मैक्सवेबर (1958). द रिलिजन ऑफ इण्डिया: द सोशियोलॉजी ऑफ हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज़्म (भारतीय धर्म: हिन्दू और बौद्ध समाजशास्त्र) (एच. एच. गर्थ एवं डी. मार्टिनडेल, संपा. एवं अनु.). द फ्री प्रेस, ग्लेन्को. (मूल रूप से 1916 में प्रकाशित)

मैडिसन, एंगस (2001). द वर्ल्ड इकॉनमी: अ मिलेनियम पर्सपेक्टिव (वैश्विक अर्थव्यवस्था का इतिहास). ओ. ई. सी. डी. पब्लिकेशन, पेरिस.

यजुर्वेद (सि. भट्टाचार्य, संपा.). (1973). काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी. (मूल रूप से प्राचीन काल की रचना)

याज्ञवल्क्य स्मृति (उ.च. पाण्डेय, व्याख्या.). (1993). चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी. (मूल रूप से प्राचीन काल की रचना)

राधाकृष्णन, एस. (1923). इण्डियन फिलॉसफी (भारतीय दर्शन) (खण्ड -1). जॉर्ज एलन एवं उन्विन लिमिटेड, लन्दन.

राधाकृष्णन, एस. (1927). इण्डियन फिलॉसफी (भारतीय दर्शन) (खण्ड -2). जॉर्ज एलन एवं उन्विन लिमिटेड, लन्दन.

वर्के, सी.जे. (1940). द वर्धा स्कीम ऑफ एजुकेशन (वर्धा शिक्षा योजना). ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन. (मूल रूप से 1939 में प्रकाशित)

वैशेषिक दर्शन (राजाराम, टीका. एवं व्याख्या.). (1919). बॉम्बे मशीन प्रेस, लाहौर.

शेरिंग, एम.ए. (1872). हिन्दू ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऐज रिप्रजेंटेड इन बनारस (बनारस की हिन्दू जाति और जनजाति). ट्रबनर, लंदन.

श्रीनिवास, एम. एन. (1967). आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन. राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

सुन्दरलैंड, जे .टी. (1928). इण्डिया इन बांडेज: हर राइट टू फ्रीडम (बंधन में भारत: स्वाधीनता का उसका अधिकार). आर. चटर्जी, कलकत्ता.

स्पेंसर, एच. (1884, 8 मई). व्हाट नॉलेज इज ऑफ मोस्ट वर्थ (उपयोगी ज्ञान). द एल्ज़ेविअर लाइब्रेरी. (मूल रूप से 1861 में प्रकाशित)

स्मिथ, ए. (1937). द वेल्थ ऑफ नेशन्स (राष्ट्र की समृद्धि). द मॉडर्न लाइब्रेरी, न्यूयॉर्क. (मूल रूप से 1776 में प्रकाशित).

हितोपदेश (रा. भट्ट, अनु.). (1894). चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली. (मूल रूप से नारायण पण्डित की प्राचीन काल की रचना)

हिरियन्ना, एम.(1932). आउटलाइन्स ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी (भारतीय दर्शन की रूपरेखा). जॉर्ज एलन एवं उन्विन लिमिटेड, लन्दन.

होपकिंस, इ.डब्लू. (1895). द रिलिजन्स ऑफ इण्डिया (भारतीय धर्म). गिन एवं कंपनी, लंदन.